

## समाधानात्मक भौतिकवाद अध्याय - १

### प्राक्कथन

यह मूल प्रबंध रूपी पुस्तक “समाधानात्मक भौतिकवाद” सहज नाम से प्रस्तुत है। यह अस्तित्व सहज सह-अस्तित्व रूपी तथ्यों की अभिव्यक्ति है और मानव सहज ज्ञान विवेक व विज्ञान समत तर्क संगत है। वाद का अर्थ भी यही है - एक संवाद। संवाद का मतलब है प्रयोजनों के अर्थ में तर्क। मानव अपने में पूर्णता के अर्थ में किये गए वार्तालाप का संवाद, वाद, तर्क करता है और मनुष्येत्तर प्रकृति के साथ निरीक्षण, परीक्षण, सर्वेक्षणपूर्वक विश्लेषण करता है। इसी क्रम में, यह वां‘मय, मानव कुल के समुख प्रस्तुत हुआ।

मानव कुल, सुदूर विगत से ही, दर्शन विचार (वाद) और शास्त्र विधाओं में अपने को संप्रेषित करने का प्रयास करते आया है। इसी क्रम में प्रस्तुति स्वरूप एक प्रमाण है। इस प्रस्तुति के नामकरण से संबंधित स्वीकृतियाँ मानव सहज है। इसीलिए यह सार्वभौम है। यह भी देखा गया कि मानसिक रूप में स्वीकृतियाँ होते हुए भी जिमेदारी के साथ व्यवहार में प्रमाणित होने में अवश्य ही परंपरा से भिन्नता होना पाया गया। जैसा इसका शीर्ष है। पहले से हम ‘द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद’ से परिचित हैं। उसकी स्वीकृति अर्थात् द्वन्द्व के अर्थ में मानव को संघर्ष समझ में आता है। उसको सदा-सदा के लिए मानव कुल ने स्वीकारा नहीं।

जबकि परंपरा में अपेक्षा के रूप में समाधान समाया हुआ देखा जाता है, जैसा - मेधावियों के समुख द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, विज्ञान शिक्षा के आधार रूप में प्रस्तुत हुआ है। इसका प्रमाण है कि सारा विज्ञान सूत्र द्वन्द्ववादी है ही। विज्ञान सूत्र का प्रमाण यंत्र होने के आधार पर शिक्षा परंपरा इसका धारक-वाहक है। इसी के आधार पर अर्थात् ‘द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद’ के आधार पर ही ‘कामोन्मादी मनोविज्ञान’ सर्जित होना देखा गया। ऐसे मनोविज्ञान के आधार पर ही हम मानव ‘भोगोन्मादी समाजशास्त्र’ और ‘लाभोन्मादी अर्थशास्त्र’ को शिक्षा परंपरा में स्वीकार लिए। इसी द्वन्द्ववादी जंगल में मूल्य, चरित्र, नैतिकता को खोजे जा रहे हैं। अभी तक यह किसी देश, काल में प्रमाणित नहीं हो पाया है। इन्हीं प्रश्नों के उत्तर या समाधान रूप में जो सह-अस्तित्व सहज नियम, प्रक्रिया और फलन है, इसी के यथावत संप्रेषित करने के क्रम में इस पुस्तक को प्रस्तुत किया है।

‘समाधानात्मक भौतिकवाद’ मूलतः व्यवस्था केन्द्रित अभिव्यक्ति, संप्रेषणा है। यह अस्तित्व में पाए जाने वाले मनुष्येत्तर संपूर्ण प्रकृति का अध्ययन सहज निश्चय के आधार पर निर्भर है। इस प्रस्तुति के पहले अस्तित्व सहज वैभव को समझना एक आवश्यकता रही है, इसकी आपूर्ति सहज संभव हो गई।

समाधान हर मानव में स्वीकृत है। इसे और भी विधि से कहा जाय तो सर्वतोमुखी समाधान सर्वमानव में स्वीकृत है। मनुष्येत्तर प्रकृति में आचरण प्रमाणित है ही। इसका नीति सूत्र है - “अस्तित्व में प्रत्येक एक अपने ‘त्व’ सहित व्यवस्था में कार्यरत और समग्र व्यवस्था में भागीदारी सपत्र है।” इस क्रम में मिट्टी, पत्थर, मणि, धातु, परमाणु, अणु, अणु रचित संपूर्ण पिंडों, किसी पिण्ड की सतह में पाए जाने वाले वनस्पति संसार, जीव संसार, इसी सूत्र व्याया में प्रमाणित होते हैं। मानव में प्रमाणित होना शेष है। इसे अध्ययनगय कराने के लिए ‘समाधानात्मक भौतिकवाद’ है।

मानव में समाधान प्रमाणित होने की संभावना है। मानव तभी समझदार हो पाता है, जब अस्तित्व, जीवन और मानवीयता पूर्ण आचरण अच्छे से समझ में आ जाय। यह आएगा कहां से? मानव से ही, मानव के लिए सुलभ होना नित्य सहज है। इस विधि से यह प्रस्तुत हुआ है।

समाधान का तात्पर्य क्यों और कैसे के उत्तर के रूप में है। मानव व्यवहार में संपूर्ण समाधान, नियम, नियंत्रण, संतुलन, न्याय और धर्म (सार्वभौम व्यवस्था) के रूप में परम सत्य रूपी सह-अस्तित्व ही होना पाया गया है। यह नित्य समीचीन है। समीचीनता का अर्थ सबको सर्वदा सुलभ एवं समीपस्थ होने से है। समीपस्थता, यह सह-अस्तित्व विधि से प्रमाणित है। सह-अस्तित्व एक दूसरे के साथ होने के अर्थ को प्रतिपादित करता है। यह व्यापक वस्तु में संपृक्त, अनंत एक-एक वस्तु की हैसियत से पता लगता है। इसे अध्ययन करने की संपूर्ण प्रक्रिया सहित यह ‘समाधानात्मक भौतिकवाद’ प्रस्तुत हुआ है। दूसरी विधि से, अस्तित्व ही सह-अस्तित्व रूप में वैभवित है।

सह-अस्तित्व का मूल आशय, व्यापक वस्तु में एक-एक रूपी अनंत वस्तुओं की अविभाज्यता ही है। हर एक वस्तु जड़-चैतन्य के रूप में प्रमाणित है। प्रत्येक मानव जड़-चैतन्य का

संयुक्त साकार रूप है । इस वांमय में परमाणु विकसित होने, जीवन पद प्रतिष्ठा में वैभवित होने का अध्ययन है ।

गर्भाशय में मनुष्य शरीर की रचना भी प्राणकोशाओं से रचित होना स्पष्ट हो चुकी है । फलस्वरूप जीवन सहज, जागृति पूर्वक, अस्तित्व समझ में आने, अस्तित्व, सह-अस्तित्व, विकास, जागृति, रासायनिक, भौतिक रचना-विरचना की क्रमविधि सहज प्रयोजन इस वांमय से सपन्न होने का आशय है ।

ए. नागराज

श्री भजनाश्रम, श्री नर्मदांचल

अमरकंटक, जिला-अनूपपुर, (मध्यप्रदेश)

## अध्याय-१: समाधान और द्वन्द्व

समाधानात्मक भौतिकवाद के नाम से मानव में अनेक प्रश्न उभरना स्वाभाविक है। जब से मानव सुनने-सुनाने योग्य हुआ, तब से भय और प्रलोभन वश ईश्वरवादिता क्रम में से ईश्वर को श्रेष्ठ तथा जीव-जगत का कर्त्ता, भरता, हरता मानता ही आया। कुछ समय बाद भौतिकता का नाम आया, तब से भौतिकतावादी, भौतिकता को अपने में द्वन्द्व ही बताते आये हैं। द्वन्द्व बताने वाले अपने को अत्यधिक वैज्ञानिक मान लिए हैं। विज्ञान को विधिवत अध्ययन मानते हैं। विधिवत अध्ययन का सार तर्क संगत होने से है। इस विधि से अथवा उपक्रमों से मानव ने भौतिक संसार में संघर्ष विधि से विकास को माना, जबकि आदर्शवादियों ने जगत् को ईश्वर की कृपा से उत्पन्न मान लिया।

द्वन्द्व कहने के मूल में अंतरविरोध और बाह्य विरोध नामक दो बातों की स्वीकारते हुए, अंतर्विरोध को विकास का आधार बताया गया। बाह्य विरोध को संघर्षपूर्वक स्व-वैभव अथवा स्वयं की ताकत को प्रदर्शित करने का आधार बताया गया। जबकि वास्तविकताओं का परिशीलन करने पर इसके विपरीत तथ्य उभर आए। जैसे:-

1. प्रत्येक एक अपने वातावरण सहित संपूर्ण है।
2. प्रत्येक एक अपने त्व सहित व्यवस्था है और समग्र व्यवस्था में भागीदार है।
3. प्रत्येक एक अपनी स्वभाव गति में विकास की ओर और आवेशित गति में हास की ओर गतिशील होता है।
4. परस्पर नैसर्गिकता में ही आवेशित गति और स्वभाव गति का होना स्पष्टतः पाया जाता है।

जैसे यह धरती शून्याकर्षण विधि से अपनी स्वभाविक गति में निरंतर गतिशील है। यह अपने में से एक व्यवस्था है ही। समग्र व्यवस्था में भागीदारी का प्रमाण एक सौर-व्यूह में भागीदारी के रूप में प्रमाणित है। सौर व्यूह में जितने ग्रह गोल हैं, उनके साथ अपनी गति को भागीदारी के रूप में अर्पित किया ही है। इससे यह सूत्र निकलता है कि “जो स्वयं व्यवस्था सहज रूप में नित्य वर्तमान रहता है, वह समग्र के साथ व्यवस्था में भागीदार हो पाता है।”

यह धरती अपने में व्यवस्था है। इसके साक्ष्य में इसी धरती पर चारों अवस्थाओं ने सह-अस्तित्व को प्रमाणित किया है। इसी धरती पर पदार्थवस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था और ज्ञानावस्था देखने को मिला है। यह सब देखने वाला अर्थात् समझने वाला ज्ञानावस्था का मानव ही है। ये सब प्रकार की अभिव्यक्तियाँ, इस धरती में होने के मूल में उसकी स्वभाव गति ही रही है, क्योंकि “प्रत्येक एक अपनी स्वभाव गति प्रतिष्ठा में ही अग्रिम विकास व यथा स्थिति को प्राप्त कर लेता है। क्योंकि प्रत्येक एक के लिए स्वभाव गति में सहज ही नैसर्गिकता, वातावरण एवं परंपरा आदि, ये सब अनुकूल रहते आया है।” किसी एक परमाणु या अणु को या एक मानव को स्वभावगति में रहने के लिए अनुकूल परिस्थिति का अथवा किसी जीव या वनस्पति को उन उनकी स्वभाव गति में रहने योग्य वातावरण, नैसर्गिकता और परस्परता मिल जाए, तब उनमें जो परिवर्तन देखने में आवेगा वह सब पहले से अधिक दृढ़ता तथा गुणात्मक और मात्रात्मक रूप से विपुलता की ओर परिवर्तित होता हुआ देखने को मिलता है।

इसे और भी स्पष्टता से देखें कि मानव जन्म से ही अर्थात् शरीर यात्रा के समय से ही न्याय का याचक, सही कार्य करने का इच्छुक और सत्य वक्ता होता है। यह शिशु की स्वभाव गति है। इसके अनुकूल परिस्थिति, वातावरण, नैसर्गिकता और परस्परता को स्थापित करने की स्थिति में मानव संतान में -

1. न्याय प्रदायिक क्षमता,
2. सही कार्य-व्यवहार करने की योग्यता तथा
3. सत्यबोध होने की पात्रता-सहज प्रमाणित होती है।

उक्त उदाहरण से यह भी हृदयंगम होता है कि मानव परंपरा में सानुकूलता के आवश्यकीय तथ्य स्पष्ट होते हैं। ऊपर स्पष्ट किया गया है कि इसके लिए पहले से, मानव परंपरा में अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित चिन्तन रूपी अस्तित्व दर्शन, जीवन ज्ञान सहज ऐसा अधिकार स्थापित हुआ रहता है तभी ऐसी सानुकूल परिस्थिति को स्थापित करना संभव हो पाता है। अभी तक मानव परंपरा में ऐसी स्थिति नहीं बन पाई है। जबकि मानवेतर प्रकृति अर्थात् पदार्थ, प्राण एवं जीव प्रकृति सानुकूलता के साथ “त्व” सहित व्यवस्था के रूप में है। इनमें सानुकूलता का अध्ययन और मानव में सानुकूलता

का अध्ययन विधि का भिन्न होना पाया जाता है। इनमें पदार्थावस्था की वस्तुओं को देखने पर पता चलता है कि मानव निर्मित अधिक आवेशित वातावरण से भी स्वयं स्वभावगति में रहने की स्थिति में, स्व विकास क्रम स्थिति को प्रमाणित कर लेता है। जैसे एक परमाणु अपनी स्वभाव गति में रहते हुए एवं दूसरा परमाणु अपने आवेशित गतिवश उनमें निहित कुछ अंशों को बहिर्गत करने के लिए विवश होने की स्थिति में पहला वाला (परमाणु) अपने में उन बहिर्गत अंशों को आत्मसात करता हुआ मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि पदार्थावस्था में आवेशित गति भी पूरक हो पाता है, जबकि मानव आवेशित गतिवश, स्वयं भ्रमवश क्षतिग्रस्त होता ही है, अन्य को भी क्षतिग्रस्त कर देता है। पदार्थावस्था में अपने समृद्ध होने के लिए, जितने भी प्रकार के परमाणु अणु और अणु रचित पिण्डों के रूप में समृद्ध होने तक स्वभाव गति और आवेशित गति का परस्पर पूरक होना स्पष्ट होता है।

प्राणावस्था में वनस्पतियाँ अपनी स्वभावगति में रहने के लिए सानुकूल वातावरण चाहती हैं, जो पदार्थावस्था से भिन्न है। वनस्पतियाँ मूलतः बीजानुषंगीय व्यवस्था की अभिव्यक्ति है। वनस्पतियों के लिए सानुकूल वातावरण प्रधान रूप में ऋतु-संतुलन है। ऋतु संतुलन का तात्पर्य आनुपातिक वर्षा का होना, आनुपातिक रूप में शीत होना, आनुपातिक रूप में गर्म होना है। वनस्पतियों में होने वाली दिनचर्या को देखने पर पता चलता है कि ऊपर कहे तीनों प्रकार की उपलब्धियाँ किसी सीमा तक सह पाती हैं अर्थात् अनुकूल होना प्रमाणित हो पाता है। किसी अनुपात के अनन्तर अर्थात् किसी अवधि के कम या अधिक होने से प्रतिकूलता प्रमाणित होती है अर्थात् वनस्पतियाँ मर जाती हैं। वास्तविक रूप में उनके रचनाक्रम और वैभव क्रम में प्रतिकूलता उसकी विरचना के रूप में होना देखा जाता है। इसी घटना को मरना भी कहा जाता है। इसका तात्पर्य यही हुआ कि संपूर्ण वनस्पतियाँ जीव शरीर और मानव शरीर भी प्राण कोशाओं से रचित है। इस कारण यह न्यूनतम अधिकतम ऊष्मा में संतुलित रहता है। इसी प्रकार न्यूनतम अधिकतम पानी को पाकर और न्यूनतम अधिकतम ठंडी को पाकर ही अपने संतुलन को स्वभाव गति के रूप में रख पाता है। इसी के साथ अर्थात् ऋतुमान के साथ ही सानुकूल रूप में धरती, हवा और उर्वरक संयोग भी महत्वपूर्ण कारक तत्व है।

ऊपर कहे गए सभी तत्व यथा-शीत, ऊष्ण, वर्षा, हवा, धरती और उर्वरकता का संतुलन यह धरती अपनी स्वभावगति प्रतिष्ठा के आधार पर स्पष्ट कर चुकी तभी जीव और मानव संसार इस धरती पर

पनपे। इस प्रकार इस धरती की स्वभावगति प्रतिष्ठा में स्थित प्रत्येक मानव को समझ में आता है। अस्तु, प्राणावस्था की संपूर्ण रचनाओं के लिए अपनी परंपरा सहज स्वभाव गति को अक्षुण्ण बनाए रखने हेतु उक्त पाँचों कारक तत्वों का संतुलित रहना एक आवश्यकता है। इस प्रकार प्राणावस्था और प्राणावस्था की संपूर्ण रचनाएँ पदार्थावस्था से विकसित दिखते हुए, वातावरण और नैसर्गिकता सहज कारक तत्वों का सहअस्तित्व सहज पूरकता अनिवार्य रहना दृष्टव्य है।

इस विश्लेषण में भी अंतविरोध बाह्य विरोध के स्थान पर अंतर्संबंधों में संतुलन बाह्य संबंधों में भी संतुलन इनके संयोग में सामन्जस्यता प्रमाणित होती हैं। यह समाधान का साक्षी है।

ऊपर किए गए विश्लेषण से यह भी स्पष्ट हुआ कि सह-अस्तित्व में ही स्वभावगति और आवेशित गति परस्पर सानुकूलता, प्रतिकूलता आवश्यकता, उपलब्धि, संभावना ये सब मानव में, से, के लिए अध्ययनगय होते हैं। इसकी आवश्यकता इसीलिए है कि “मानव स्वयं संतुलित स्वभावगति संपन्न समाधान सहज रूप में वैभवित हो सके।”

“जीवों की सानुकूलता और स्वभाव गति प्रधानतः आहार, विहार व प्रजनन कार्य में प्रमाणित हो पाती है।” जीवों में शाकाहारी और मांसाहारी प्रजातियाँ देखने को मिलती हैं। इन इनके अंग अवयव की संरचनाओं में विशेषताएँ देखने को मिलती है।

उदाहरण के रूप में मांसाहारी और शाकाहारी पशुओं के हाथ, पैर और नाखून, सींग खुर आदि रचनाओं में अंतर होना पाया जाता है। प्रधानतः आंतों की रचना, नाखून और दांत की रचना मौलिक रूप में पहचानने में आती है। मांसाहारी पशुओं में आंते लंबाई में छोटी होती हैं और शाकाहारी पशुओं की आंते बड़ी होती है। यह एक मौलिक आधार है। इसी क्रम में नाखून और दांतों की बनावट में भी अन्तर होना पाया जाता है। शाकाहारी सभी जीव होठों से पानी पीते हैं जबकि मांसाहारी जीव समुच्चय जीभ से पानी पीते हैं। सभी पशुओं में चाहे वे मांसाहारी हों या शाकाहारी वंशानुषंगीय विधि से परंपरा होना देखने को मिलता है। जैसे:- हाथी, घोड़ा, कुत्ता, बिल्ली, भेड़ अपने अपने वंशानुषंगीय शरीर रचना और प्रवृत्ति जो जीवन का वैभव हैं से युक्त होते हैं। इनके अर्थात् शरीर और जीवन के संयोग से संपूर्ण प्रजाति के पशुओं का संतुलन और नियंत्रण होना पाया जाता है। इनमें संतुलन का आधार पहचानने के क्रम में पशु अर्थात् जीव जातियों का मांसाहारी और

शाकाहारी होना पाया गया है। पदार्थ, प्राण, जीव इन तीनों अवस्थाओं में परस्पर पूरकता सिद्धांत प्रभावशील रहता ही है। जैसे पदार्थावस्था प्राणावस्था के लिए प्राणावस्था पदार्थावस्था के लिए पूरक है- यह स्पष्ट है। ये दोनों अवस्थाएँ जीवावस्था के लिए पूरक हैं। जीवावस्था भी प्राणावस्था और पदार्थावस्था के लिए पूरक है यह प्रमाणित है। जैसे- सपूर्ण जीव पूरक होने के क्रम में पदार्थावस्था को अपने मल, मूत्र और शरीर के उपयोग से और वनस्पतियों में होने वाले अनेक संक्रामक और आक्रामक रोगों को अपने मल मूत्र श्वास एवं शरीर गंध से दूर करने में सहायक हुए हैं। जीवों का मल मूत्र और श्वसन क्रिया महत्वपूर्ण भूमिका निभाता हुआ देखने को मिलता है। इस प्रकार इन तीनों अवस्थाओं का परस्पर पूरक होना, देखने को बन पाता है।

मानव ज्ञानावस्था की इकाई होते हुए इस बीसवीं शताब्दी के दसवीं दशक तक मानवेत्तर प्रकृति के साथ पूरक होने के स्थान पर इन्हें सर्वाधिक क्षतिग्रस्त करने में लगा ही रहता है। इतना ही नहीं, मानव मानव के साथ विद्रोहात्मक -द्रोहात्मक, शोषणात्मक और युद्धात्मक विधियों को अपनाता हुआ स्वयं क्षतिग्रस्त होते हुए अनेकों को क्षतिग्रस्त करने -कराने में लगा रहता है। यह सुदूर विगत से आई समस्याओं का निचोड़ है। इन समस्याओं का समाधान भौतिक-रासायनिक वस्तुओं तथा जीवन व्यापक और अनंत इकाई रूपी वस्तुओं के अविभाय अध्ययन से संभव है। इससे समाधानात्मक अवधारणाएँ मानव सुलभ होती हैं। ऊपर की बातों में मानव के अतिरिक्त तीनों अवस्थाओं के अध्ययन की झलक आई है। उसके अनुसार और वर्तमान में यही देखने को मिलता है कि “अस्तित्व में प्रत्येक एक अपने त्व सहित व्यवस्था है और समग्र व्यवस्था में भागीदार है।” इसके प्रमाणों को पूरक विधि से पदार्थावस्था, प्राणावस्था जीवावस्था में वर्तमान होना स्पष्ट किया गया। इसी क्रम में मानव में, से, के लिए भी व्यवस्था अपेक्षित है।

“अस्तित्व में व्यवस्था ही समाधान है, अव्यवस्था ही समस्या है” मानव अभी तक समस्याओं से जूझते ही आया है। अभी तक मानव अपने को एक इकाई मानने में शंकाग्रस्त है और संकटग्रस्त भी है। इसीलिए समाधानात्मक भौतिकवाद के प्रति शंका अथवा आश्चर्य होना भी संभव है। मनुष्य सहज रूप में जानने-मानने-पहचानने के आधार पर एक योग्य इकाई है। सह-अस्तित्व सहज विधि से ही विश्वास होने के कारण मैं यह विश्वास करता हूँ कि मानव यथार्थता, सत्यता, वास्तविकता को हृदयंगम कर सकता है। यथार्थ यही है कि “मानव मानवत्व सहित व्यवस्था है” और समाधान है। मानवत्व से



व्यवस्था के रूप में प्रमाणित होने के लिए सर्वप्रथम एक व्यक्ति का सर्वतोमुखी समाधान संबंधी तथ्यों में ओत-प्रोत होना या दूसरी भाषा में अधिकार संपन्न होना आवश्यक रहा है। यह होना अब संभव हो गया है। इसका प्रमाण यही है कि “समाधानात्मक भौतिकवाद” मानव के समुख प्रस्तुत है।

मानव सहज रूप में ही अपनी कल्पनाशीलता कर्म स्वतंत्रता सहज महिमा के आधार पर अनेक प्रयोग करता है अथवा करने योग्य है ही। कल्पना करने पर पता चलता है कि हर व्यक्ति अपने में समाधान चाहता है। इसी प्रकार न्याय चाहिए या अन्याय, शांति चाहिए या अशांति, संघर्ष चाहिए या समाधान-इन सब कल्पनाओं में मानव सहज ही शांति, न्याय, समाधान जैसे तथ्यों को स्वीकारता है।

मानव स्वाभाविक रूप में ही सुख चाहता है भले ही सुख को वह नहीं जानता, इसके बावजूद वह सुख का पक्षधर होता है। अधिकांश मानव सुख के लिए ही रुचियों, प्रलोभनों के पीछे दौड़ते रहते हैं। इस तथ्य के निरीक्षण परीक्षण के उपरान्त यह निष्कर्ष निकलता है कि परपरा जिन दिशा कोणों में प्रोत्साहित करता है अथवा जितना जागृत हुआ रहता है उसी के अनुरूप दिशा निर्देशन कर पाता है। परपरा का तात्पर्य शिक्षा-संस्कार, संविधान और व्यवस्थाओं का अविभाय रूप में क्रियारत होना है। यह एक सहज प्रमाण है कि हर समुदाय किसी न किसी संविधान, शिक्षा, व्यवस्था तथा संस्कार को अपनाया रहता है। इसे इस धरती के सभी समुदायों में निरीक्षण परीक्षण करके देखा जा सकता है। इससे यह भी स्पष्ट हुआ कि उन चारों आयामों के संबंध में मानव की कर्म स्वतंत्रता कल्पनाशीलता ने सहज रूप में कार्य किया है। अभी तक किसी एक अथवा एक से अधिक समुदायों में स्थापित संविधान व्यवस्था और संस्कार सभी समुदायों के लिए स्वीकृत नहीं हो पाया। सभी समुदायों में मानव विचारशील रहे हैं। समीचीन ज्ञान विज्ञान के अनुरूप अभय और शांति सबको सुलभ होने के उद्देश्य से ही सभी संविधानों की स्थापना हुई है। प्रत्येक समुदाय अपने संविधान के अनुरूप शिक्षा, संस्कार, राज्य और धर्म व्यवस्था पाने की आशा और आकांक्षा से इसमें अर्पित होते आया है। आज भी ऐसी ही स्थितियाँ देखने को मिलती हैं। इस प्रकार सभी समुदायों में संविधान, शिक्षा, संस्कार व्यवस्था संबंधी तथ्यों को सोचते हुए समुदाय चेतना से विवश होकर समस्त कार्य किए गए। फलतः वाद-विवाद व द्रोह-विद्रोह की संभावनाएँ आदिकाल से अभी तक बनी हुई है। यह समस्या विश्व मानव के समुख स्पष्ट है अर्थात् समुदायों के समुख स्पष्ट है।

उक्त समस्या के कारण तत्वों का निरीक्षण परीक्षण किया गया। इसका उत्तर यही मिला कि मानव ने मूलतः मानव को पहचानने में सह-अस्तित्व रूपी परम सत्य को समझने में ही भूल किया है।

इस पृथ्वी पर सर्वप्रथम मानव के अवतरण समय को जंगल युग अथवा शिलायुग का नाम दिया गया है। सर्वप्रथम एक से अधिक मानव अवतरित हुए ऐसा माना गया है। इसका कारण मानव की कल्पनाशीलता के अनुसार एक से अधिक नर-नारी होने से ही मानव परंपरा में प्रजनन कार्य संभव है। इस क्रम में सर्वप्रथम इस धरती पर एक से अधिक मानव अवतरित हो गए। सबसे पहले किस प्रकार से मानव का अवतरण संभव हुआ इस बात के लिए तमाम कल्पनाएँ होती हैं। किसी का सोचना बंदर, किसी का सोचना भालू, किसी का सोचना मछली, किसी का सोचना गाय। ये सब कल्पनाएँ की जा सकती हैं। यह सहज रूप में पाया गया है कि वनस्पतियों में अनेक बीज परंपराएँ, किसी एक परंपरा के बाद ही स्थापित हुई हैं, और जीवों में किसी एक वंश परंपरा के अनन्तर ही अनेक वंश परंपराएँ स्थापित हुई हैं। इस क्रम में वंश सूत्र का परंपरा में ही होने वाले अनुसंधान अर्थात् अनुकूल परिस्थितियों का उन्नतोन्नत रूप में व्यक्त करने के क्रम में किया गया सहज प्रयास ही है। इसी क्रम में मानव प्रजाति का अवतरण कोई भी जीव योनि मूलक विधि से मानव का होना संभव है। जिसमें समृद्ध मेधस रचना का प्रावधान परंपरा में रहते आया हो। इस मुद्दे पर कितना भी सूक्ष्म अध्ययन करें, वह सारा अध्ययन शरीर रचना के ही संबंध में हो जाएगा। शरीर रचना मानव परंपरा में, अपने ही स्वरूप में संपन्न हो ही रहा है। शरीर का संपूर्ण उपयोग जीवन की अभिव्यक्ति, जागृति का प्रमाणीकरण के लिए (माध्यम) है। मानव परंपरा में इसकी आवश्यकता है। अस्तु, मानव का इतिहास आदि मानव से होना सहज है।

“नित्यम् यातु शुभोदयम्”

मध्यस्थ दर्शन (सहअस्तित्ववाद)

प्रणेता एवं लेखक: अग्रहार नागराज

सम्पूर्ण वाङ्मय डाउनलोड:

[www.madhyasth.org](http://www.madhyasth.org)

[www.bit.ly/dpsroot](http://www.bit.ly/dpsroot)